वर्गीय विषमता के सिद्धांत व शिक्षा

अमन मदान

शैक्षिक विषमता को अलग से देखने के बजाय सामाजिक विषमता की एक व्यापक व्यवस्था के हिस्से के रूप में देखा जाना चाहिए। पिछले लेख में हमने इस बात पर चर्चा की थी कि वर्ग भेद का आशय क्या है तथा भारत के विभिन्न वर्गों में शैक्षिक अनुभवों व अवसरों की स्थिति किस तरह की नज़र आती है। इस लेख में हम वर्गीय विषमता से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों पर एक नज़र डालेंगे जिससे हमें यह समझने में मदद मिलेगी कि भारत में शिक्षा किस तरह काम करती है। ये सिद्धांत हमें एक ऐसा संदर्भ व रूपरेखा उपलब्ध करवाते हैं जिसे आधार बनाकर हम शिक्षा को देखना शुरू कर सकते हैं। ये भारत व विश्व के वर्गीय ढांचे में शिक्षा की भूमिका का नया चेहरा हमारे सामने लाते हैं। हम जाति व लिंग जैसी सामाजिक विषमताओं के अन्य रूपों व उनके आपसी संबंधों पर चर्चा थोड़ा बाद में करेंगे।

वर्गीय विषमता का प्रकार्यवादी सिद्धांत

प्रकार्यवाद का सिद्धांत इस बात को रेखांकित करता है कि सामाजिक विषमता किस तरीके से किसी समाज को बनाए रखने व चलते रहने में योगदान देती है। यानी, यह सिद्धांत सामाजिक विषमता की व्याख्या करते हुए इस बात को ध्यान में रखता है कि उसके समाज में क्या कार्य होते हैं। इस संबंध में सबसे मशहूर कथन किंग्सले डेविस तथा विल्बर्ट ई. मूर का है। उनका कहना है कि हर समाज को अपने लोगों को ऐसे काम करने के लिए प्रेरित करना होता है जो उसे जीवित रखते हैं व आगे बढ़ाते रहते हैं। हर समाज को इस तरह की जरूरत होती है कि वह अपने ढांचे में मौजूद कुछ भूमिकाएं निभाने व उपयुक्त गतिविधियां करने के लिए लोगों को आगे लाए। उदाहरण के लिए, भोजन पैदा करना, उसे पकाना, उसे बांटना आदि। समाज में कुछ काम कठिन व अरुचिकर होते हैं और आमतौर पर लोग उन्हें करना नहीं चाहते हैं। मसलन, डॉक्टरी की पढ़ाई करने में बहुत मेहनत व लंबा वक्त लगता है। ऐसे में इसे उन भूमिकाओं के लिए लोगों को आकर्षित करने में समर्थ होना होगा, साथ ही लोगों में उन भूमिकाओं को निभाते रहने की इच्छा को बनाए रखना होगा। यह सब इस तरह करना होगा कि लोग अपनी भूमिका छोड़े बिना व दूसरी भूमिका में जाने का प्रयास किए बिना अपनी भूमिकाओं को निभाते रहें। प्रकार्यवादी इस संबंध में तर्क देते हैं कि जो लोग महत्वपूर्ण भूमिकाओं को निभा रहे होते हैं उन्हें अतिरिक्त प्रोत्साहन और इनाम देकर इस काम को अंजाम दिया जाता है। जरूरी नहीं कि यह प्रोत्साहन एवं इनाम धन के रूप में ही हो, इसे सामाजिक प्रतिष्ठा व प्रशंसा के रूप में तथा काम करने की एवज में ज्यादा साधन व संसाधन उपलब्ध करवा कर भी दिया जा सकता है। एक समाज को अपने-आपको निरंतर बनाए रखने व हरेक व्यक्ति की जरूरतों को पूरा करने के लिए सामाजिक विषमता की जरूरत होती है। प्रकार्यवादी नज़रिए के हिसाब से शिक्षा यह पहचानने का काम करती है कि उन महत्वपूर्ण भूमिकाओं को कौन लोग निभा सकते हैं। शिक्षा इस बात की पहचान करती है कि कौन बेहतर

डॉक्टर बन सकता है, कौन बेहतर राजनीतिज्ञ हो सकता है, कौन बेहतर वास्तुकार व शिक्षक बन सकता है तथा उसी हिसाब से उन्हें उपयुक्त संस्थानों में प्रशिक्षित व प्रेरित होने के लिए भेज देती है। प्रकार्यवादी यह तर्क देने की कोशिश करता है कि इसी कारण अच्छे विद्यालय व विश्वविद्यालय तुलनात्मक रूप में कम संख्या में होते हैं क्योंकि उस वजह से सामाजिक विषमता जन्म लेती है और वह लोगों को उनकी ख़्वाहिश पालने के लिए प्रेरित करती है। कुछ लोगों के पास दूसरों की तुलना में अधिक धन व संसाधन होते हैं क्योंकि यही उस काम को करने का उनका प्रोत्साहन एवं इनाम होता है जिसे समाज ज्यादा महत्वपूर्ण मानता है तथा ऐसा इसलिए भी होता है क्योंकि इससे दूसरे लोग उसे पाने व करने के लिए भी प्रेरित होते हैं।

बहुत से समाज विज्ञानी सामाजिक विषमता तथा शिक्षा के बारे में इस प्रकार्यवादी व्याख्या से असहमति रखते हैं। यह सही बात है कि लोगों को अपनी भूमिकाएं अदा करने के लिए प्रेरित करने के लिए समाज को कुछ तरीकों की जरूरत होती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम आज जो देख रहे हैं वह स्वभाविक रूप से सबसे बेहतर तरीका हो। प्रकार्यवाद के आलोचकों का कहना है कि बहुत ज्यादा सामाजिक विषमता होना तो प्रेरणा के लिए और भी बुरा हो सकता है और दरअसल समाज को नुकसान पहुंचा रहा है। बहुत से लोग यह अंदाजा लगा लेते हैं कि अच्छे कॉलेज में दाखिले का उनके पास अवसर नहीं है और इसीलिए वे शिक्षा ही छोड़ देते हैं। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि अगर ज्यादातर भारतीय इतने गरीब हैं कि वे अच्छी शिक्षा हासिल करने की कीमत ही नहीं चुका सकते तो इसका अर्थ है कि बहुत से लोगों की सामर्थ्य बर्बाद हो रही है। तो फिर यह बात कैसे कही जा सकती है कि सामाजिक असमानता भारत की जरूरत के हिसाब से काम कर रही है?

यह बात भी कही जाती है कि लोगों को प्रेरित करने के लिए दरअसल बहुत ज्यादा विषमता की जरूरत नहीं होती उसके लिए थोड़ा-सा अंतर होना ही पर्याप्त होता है। फिर ऐसा क्यों है कि कुछ संस्थाओं या निकायों में सबसे शीर्ष पर बैठे व्यक्ति को तो एक करोड़ रुपये से भी ज्यादा तनख़्वाह मिलती है जबकि उसी संस्था या निकाय में सबसे निचले पायदान पर मौजूद व्यक्ति को महज आठ हजार रुपये या इसके आसपास राशि मिलती है। यह समझ से परे है कि उन दोनों के योगदान में इतना भारी फर्क कैसे है (1000:1)। पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में शीर्ष पर बैठे व्यक्ति व एक आम कामगार की तनख्वाह में 30:1 के फर्क को भी लोगों को प्रेरित करने में काफी असरदार पाया गया है। लेकिन इसी अनुपात को संयुक्त राज्य अमेरिका (किआत्पोंग्सन व नॉर्टन 2014) जैसे देश में लोगों को प्रेरित करने के लिए 350:1 होने की जरूरत क्यों होती है? इसी तरह से यह भी कैसे संभव हो पाता है कि बबलगम बनाने वाली एक फैक्ट्री का मालिक तो बहुत-सा धन कमा रहा हो सकता है जबकि एक ईमानदार व सहृदय शिक्षक को दोनों वक्त का भोजन जुटाने में भी संघर्ष करना पड़ रहा हो। यह समझ से परे है कि समाज के लिए बबलगम फैक्ट्री किस तरह शिक्षक की अपेक्षा ज्यादा सार्थक काम कर रही है।

सामाजिक विषमता का संघर्षवादी सिद्धांत

इस दूसरे सिद्धांत का कहना है कि सामाजिक विषमता अपने काम करने के ढंग से होने वाले फायदों की वजह से मौजूद नहीं रहती बल्कि इसलिए मौजूद रहती है कि कुछ समूह दूसरे समूहों पर अपना प्रभुत्व जमाकर उससे फायदा उठाते हैं। यहां जोर सामाजिक वर्गों के बीच संघर्ष पर है। यह संघर्ष जाति, नस्ल व जेंडर/लिंग जैसे अन्य सामाजिक समूहों के बीच भी होता है। कार्ल मार्क्स व मैक्स वेबर जैसे क्लासिकल सामाजिक विचारकों के मुताबिक सामाजिक संघर्ष मानव के सामाजिक जीवन के हर कोने में है। हालांकि सामाजिक संघर्ष व प्रभुत्व को लेकर इन लोगों की समझ थोड़ी अलग-अलग है। मार्क्स और उससे प्रेरित बहुत से लोगों का मानना है कि विषमता पूंजीवाद के भीतर ही मौजूद रहती है। पूंजीवादी उत्पादन दिहाड़ी पर मजदूर जुटाकर किया जाता है। ये मजूदर धन के बदले अपनी मजदूरी उन लोगों को बेचते हैं जिनका पूंजी पर नियंत्रण होता है। जिन लोगों का पूंजी पर नियंत्रण होता है उनके पास ज्यादा सत्ता होती है और उनका बाजार पर भी नियंत्रण होता है। इस तरह वे दिहाड़ी पर मजदूरी करने वालों को अपने बराबर आने से रोके रखते हैं। अगर दिहाड़ी मजदूर उनके बराबर हो गए तो पूंजीपतियों को अपना आदेश मनवाना कठिन

हो जाएगा। इस विपरीत संबंध की वजह से ही कुछ वर्ग दूसरे वर्गों पर अपना प्रभुत्व जमाकर फायदा उठाते रहते हैं और कहा जाता है कि इसी वजह से सामाजिक विषमता बनी रहती है। शिक्षा में काम करने वाले मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों का मानना है कि शिक्षा में विषमता इसीलिए मौजूद है कि जिन वर्गों के पास सम्पत्ति अधिक होती है, स्कूलों व कॉलेजों पर प्रभुत्व भी उन्हीं का होता है। इन दौलतमंद व दूसरे का शोषण करने वाले लोगों का वर्गीय हित इसी में है कि कामकाजी वर्ग के लोगों को कम शिक्षित रखा जाए व उन तक गिने-चुने विचार ही पहुंचें। गरीबों के स्कूलों, खासकर सरकारी स्कूलों की हालत खराब इसीलिए हैं कि भारत में सत्ता की बागडोर पूंजीपतियों व उनके मैनेजर मित्रों/साथियों के हाथों में है और गरीबों की शिक्षा को सुधारने में उनकी कोई रुचि नहीं है। गरीबों के स्कूलों को सुधारने में जो निवेश करना होगा उसमें उनके टैक्स का ही पैसा लगेगा। इसके बजाय वे उस धन का उपयोग किसी ऐसे काम में करना चाहेंगे जिसका उन्हें सीधे तौर पर फायदा मिले। जहां तक उनके खुद के बच्चों का सवाल है उन्हें महंगे निजी स्कूल में भेजने के लिए उनके पास पर्याप्त पैसा है।

वर्ग व उत्पादन के साधन

शुरुआत में मार्क्सवादी परंपरा ने वर्ग व वर्गीय हितों के बीच मौजूद भिन्नता के स्रोतों को समझने में जबरदस्त मदद की थी। मार्क्स ने इस ओर ध्यान दिलाया कि समाज में विसंगतियां मौजूद होने का मूल कारण उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होना है। पूंजीवादी संस्कृति पूरे समाज को लाभ पहुंचाने के बजाय व्यक्तिगत लाभ पर जोर देती है। जब इस संस्कृति के तहत कोई उत्पादन किया जाता है तो उससे होने वाले लाभ वे लोग उठाते हैं जिन लोगों का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होता है तथा वे दूसरे लोगों को उन लाभों से वंचित कर देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्स का मानना था कि आधुनिक समाज दो मुख्य वर्गों के बीच बंट रहा है। एक वर्ग वह है जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार है तथा दूसरा वर्ग वह है जिसके पास सिर्फ अपनी देह है और जिसे बाजार में अपना श्रम बेचकर पहले वर्ग के हित में काम करने के लिए मजबूर किया जाता है। मार्क्स ने *एटीन्थ ब्रूमेर ऑफ लूइस बोनापार्ट* (मार्क्स 1852) जैसे अपने लेखन में कुछ और वर्गों का भी वर्णन किया है किन्तु उनका मुख्य जोर पूंजीपतियों (जिनका उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण था) तथा मजदूरों (जिनके पास उत्पादन के कोई साधन नहीं थे) के बीच बढ़ते तनाव पर ही रहा। जिन लोगों ने इस वर्गीय विश्लेषण का उपयोग शैक्षणिक समस्याओं को समझने में किया है उन्होंने इस ओर ध्यान दिलाया है कि शिक्षा में मौजूद असमानता का सीधा संबंध किस तरह वर्गों के बीच मौजूद तनावों व अंतर्विरोधों से है।

पूंजीपति व मजदूर जैसे सिर्फ दो वर्गों पर जोर देने वाला यह विश्लेषण जिस तरह से औद्योगिक यूरोप के शुरुआती सामाजिक तनावों को समझने में मदद करता है ठीक उसी तरह से वर्तमान भारत को समझने में हमारी उतनी मदद नहीं करता। उदाहरण के लिए, एक प्रबंधक अथवा सरकारी अधिकारी को हम उक्त दोनों में से किस श्रेणी में रखेंगे। वह न तो साफतौर पर कोई पूंजीपति है क्योंकि उसका किसी तरह के उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं है और उसे मजदूर कहना भी मुश्किल है क्योंकि यह नहीं पता कि उसका शोषण कौन कर रहा है और उसके द्वारा किए जा रहे अतिरिक्त उत्पादन को कौन हड़प रहा है। उसकी आय भी अच्छी खासी हो सकती है और दर्जनों ऐसे मातहत भी हो सकते हैं जो इशारा पाते ही हाजिर हो जाएं। उसका बच्चा महंगे निजी स्कूल में जा रहा हो सकता है। हमारे लिए यह कहना भी मुमकिन नहीं होगा कि वह और उसका परिवार उसी वर्ग से ताल्लुक रखते हैं जिससे उसके ऑफिस में काम करने वाला वह चपरासी रखता है जो अपने लिए दो वक्त की रोजी-रोटी बमुश्किल कमा पाता है और अपने बच्चों को किसी सस्ते से निजी स्कूल में भेजता है।

मार्क्स ने वर्गीय विषमता का अपना सिद्धांत आज से करीब डेढ़ सौ साल पहले गढ़ा था और तब से आज तक समाज लगातार बदलता रहा है। आजकल बहुत से समाजशास्त्री (गोल्डथ्रोप तथा मार्शल 1992, राइट 1995) जिनमें वे भी शामिल हैं जो अपने को मार्क्सवादी कहते हैं, वर्गीय विषमता के सिद्धांत को मार्क्स के विचारों में वेबर के कुछ विचारों को शामिल करते हुए परिभाषित करते हैं। उनका तर्क होता है कि वर्गीय विषमता को परिभाषित करते हुए मार्क्स जब उत्पादन के साधनों के साथ रिश्ते पर जोर दे रहे होते हैं तो वे आज भी सही होते हैं किन्तु एक समग्र तस्वीर

बनाने के लिए हमें इसमें यह बात भी जोड़नी चाहिए कि श्रम के बाजार में किसी व्यक्ति की हैसियत क्या है और उसके पास किस तरह की सत्ता है। शिक्षा किसी व्यक्ति को आर्थिक किस्म की पूंजी उपलब्ध करवाकर पूंजीपति बना दे इसकी संभावना बहुत ही सीमित होती है। इसके बजाय शिक्षा का असर ऐसे समाज में ज्यादा होता है जहां बाजार में किसी व्यक्ति की शैक्षणिक डिग्रियों की मांग की वजह से तथा उसके द्वारा किसी संस्थान में सत्तावान पद पा लेने से सामाजिक वर्ग प्रभावित होता है।

वर्ग तथा बाजार की स्थिति

लगातार बदलते इस बाजार में विभिन्न तरह की क्षमताओं की मांग होती है। इसमें किसी की स्थिति को समझने के लिए हम एक युवा शागिर्द लुहार के उदाहरण की मदद लेते हैं। हो सकता है सौ साल पहले मजदूरों के बीच उसकी स्थिति सम्मानजनक रही हो। लुहार ने एक जबरदस्त हुनर सीखा, उसने गरम लाल धातु को अपने तेज प्रहारों से ऐसी कीमती चीजों में तब्दील किया जिन्हें खरीदने की इच्छा हर कोई रखता था। परन्तु जैसे-जैसे तकनीक बदलती गई इस पुराने लुहार के ज्यादातर ग्राहक उससे दूर होते चले गए। लोग उपकरण खरीदने को तरजीह देने लगे तथा स्थानीय लुहार की बनाई चीजों की जगह फैक्ट्री में बनी चीजें खरीदने लगे। इस तरह उस लुहार व उसके शागिर्द दोनों की मांग बाजार में कम होती चली गई। इसी के बरक्स स्कूली शिक्षा पाया हुआ छात्र सौ साल पहले लुहार की तुलना में कम कमा पाता था किन्तु आज की स्तरीकृत व्यवस्था में उसकी स्थिति काफी बेहतर हो गई है। आज स्कूल के उत्पाद लुहार की तुलना में ज्यादा मांग में हैं तथा उनकी कीमत भी ज्यादा मिलती है। स्कूल व पारंपरिक दस्तकारों के उत्पाद के बीच के इस वर्ग भेद को मात्र श्रम व पूंजी के विचार के आधार पर समझना मुमकिन नहीं है। ये दोनों ही कामगार हो सकते हैं किन्तु फिर भी उनका वर्ग अलग-अलग हो सकता है। लुहार भी दूसरे लोगों जितनी ही मेहनत कर रहा हो सकता है किन्तु बाजार का चरित्र व इसकी मांग आज बदल गई हैं।

शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान यह होता है कि वह छात्रों को ऐसा ज्ञान हासिल करने में मदद करती है कि श्रम के बाजार में उनकी मांग बनी रहती है। एक ऐसे समाज में जहां इंजीनियरिंग का ज्ञान रखने वाले लोगों की बहुत जरूरत है वहां शिक्षा छात्रों को यह ज्ञान उपलब्ध करवाती है और इस तरह वह उनके वर्ग की हैसियत में बदलाव ला देती है। किन्तु जब इसी ज्ञान को रखने वाले बहुत से लोग हो जाते हैं तो उनकी पूर्ति बढ़ जाती है तथा बाजार में मांग घट जाती है और इस तरह उनके वर्ग की हैसियत भी कम हो जाती है। आज की दुनिया में शिक्षा व वर्ग के बीच के रिश्ते को समझने के लिए मार्क्स के इस सवाल के साथ ही कि व्यक्ति का उत्पादन के साधनों के रिश्ता क्या है, यह समझना भी बेहद जरूरी है कि बाजार में उसकी मांग व पूर्ति किस तरह की है।

सत्ता, वर्ग व शिक्षा

वेबर का दूसरा बड़ा योगदान वर्ग व शिक्षा की समझ में उनके द्वारा की गई सत्ता के अध्ययन से आया है। उनके हिसाब से वर्गीय ढांचे का संबंध सत्ता के कम या ज्यादा होने से भी हो सकता है। जिन लोगों के पास पैसा अधिक होता है उनके पास सत्ता भी अधिक होती है। वेबर की बात मानें तो इसका आशय है कि उनके पास अपने मन की चाहत या इच्छा को पूरा करने की सामर्थ्य होती है। जिस व्यक्ति के पास पैसा ज्यादा होता है वह ढेर सारी किताबें खरीद सकता है, बेहतरीन शिक्षा देने वाले महंगे स्कूल की फीस अदा कर सकता है। उसकी तुलना में कम पैसे वाला व्यक्ति ऐसा करने में अपने को तब तक निस्सहाय महसूस कर सकता है जब तक कि सरकार या कोई अन्य तंत्र मुफ्त पुस्तकालय चलाने या मुफ्त शिक्षा देने के लिए आगे नहीं आते। सत्ता अक्सर किसी दूसरे की सत्ता की कीमत पर हासिल की जाती है। हालांकि हमेशा ही ऐसा होता हो यह जरूरी नहीं। जैसे शहरी शिक्षित लोगों खासकर प्रबंधकों/मैनेजरों व व्यावसायिक लोगों की सत्ता बढ़ने लगती है, हम पाते हैं कि शिक्षा व्यवस्था उनकी जरूरतों व आकांक्षाओं के अनुरूप ढलने लगती है। इसके विपरीत किसानों व कृषि मजदूरों की जरूरतों को दरकिनार किया जाने लगता है। यह बात सही है कि सदा ऐसा ही होता हो जरूरी नहीं किन्तु इस बात की संभावना हमेशा बनी रहती है।

यह विचार हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि जहां भी दो लोग होंगे उनकी प्राथमिकताओं में फर्क होगा। दूसरे शब्दों में कहें तो किसी न किसी तरह का द्वंद्व या टकराव होगा। इसका मतलब है कि जहां भी दो व्यक्ति होंगे वहां किसी न किसी तरह के सत्ता संघर्ष की संभावना रहेगी। असहमतियां कोई चौंकाने वाली चीज नहीं हैं बल्कि जीवन की एक जरूरी सच्चाई हैं। कुछ लोग इस बात से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि दूसरों पर दाब-धौंस या आधिपत्य जमाना और उन्हें हमारी अपेक्षाओं का अनुसरण करने के लिए बाध्य करना सामाजिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा है तथा हमें किसी एक पर दूसरे के आधिपत्य को बढ़ावा देने की कोशिश हमेशा करते रहनी चाहिए। हालांकि कुछ अन्य लोगों का मानना है कि दूसरों के साथ संवाद स्थापित करना, उनके साथ सम्मान व गरिमा के साथ बर्ताव करना ही विषमता के साथ निपटने का तरीका होता है। दूसरों को नियंत्रित करने व ऐसा करने की कोशिश करने की जरूरत बहुत कम होती है। तो फिर बच्चों को क्या सिखाया जाना चाहिए- यही कि उन्हें सदा वर्ग व सत्ता के पायदानों पर ऊपर चढ़ने की कोशिश करते रहनी चाहिए और दूसरों को अपने पैरों तले कुचल देना चाहिए? या फिर इस बात का कोई मतलब बनता है कि शिक्षा के जरिए अलग-अलग तरह की नैतिकता व अपेक्षा विकसित करने की कोशिश की जानी चाहिए। सत्ता की सामाजिक समझ की तरफ से एक महत्वपूर्ण नैतिक सवाल खड़ा किया जाता है वह यह किः अगर सत्ता इतनी आम और सर्वव्यापी है तो क्या लोगों पर धौंस या आधिपत्य जमाने की इच्छा स्वभाविक व अपरिहार्य है? या लोगों से प्यार करने, उनके साथ समता व बराबरी के रिश्ते बनाने, उनके साथ अच्छा बर्ताव करने की इच्छा स्वभाविक है? कुछ लोग इसमें से पहली को महत्व देते हैं तो कुछ दूसरी को। शायद प्रकृति ने हमें यह क्षमता दी है कि हम दोनों तरह के हो सकते हैं। हम कैसा होना चुनते हैं यह हम जिस संस्कृति में पले-बढ़े हैं उस पर व हमारे सामाजिक नज़रिए पर निर्भर करता है। दोनों ही सत्ता के रूप हैं मगर उनकी शैली व पड़ने वाले प्रभाव अलग-अलग होते हैं।

इस बहस को समझने के लिए इस बात को समझना महत्वपूर्ण होगा कि सत्ता भी विभिन्न प्रकार की होती है। एक होती है विवश कर देने वाली सत्ता जिसके तहत किसी को कोई बात मानने को मजबूर किया जाता है अन्यथा परिणाम भुगतने का डर दिखाया जाता है। शिक्षक किसी बच्चे को गृहकार्य करने की धमकी इसी तरह देते हैं अन्यथा इसका परिणाम सबके सामने अपमानित होना होता है। दूसरी तरह की सत्ता विकल्प उपलब्ध करवाकर स्थापित की जाती है। इसके तहत बच्चों को कुछ ऐसे विकल्प दिए जाते हैं जिनमें से गृहकार्य करना ही सर्वश्रेष्ठ विकल्प होता है। बाजार को स्थापित करने वाली सत्ता इसी प्रकार की होती है। इसके तहत रोजगार पाने के लिए सबसे बेहतर विकल्प के तौर पर बड़े कार्पोरेशन ही रह जाते हैं क्योंकि पिछले समय में लिए गए नीतिगत निर्णयों की वजह से कृषि क्षेत्र व सरकारी नौकरियां व्यावहारिक विकल्प नज़र नहीं आते हैं। यहां ऐसा लगता है जैसे कोई अपनी इच्छा से चुनाव कर रहा है किन्तु यह भी एक तरह की सत्ता के प्रभाव में ही किया जा रहा है।

वेबर ने नौकरशाही व करिश्माई सत्ता के बीच जो फर्क किया था वह बहुत प्रसिद्ध है। भौगोलिक अर्थव्यवस्थाएं जिस तरह से विकसित हो रही हैं उनमें ज्यादा से ज्यादा उत्पादन व उसका वितरण व्यापक स्तर पर नौकरशाही के तहत हो रहा है। लोग एक खास तरह का काम करने वाली नौकरशाही में कोई पद हासिल करके सत्ता हासिल करते हैं। छात्र एमबीए करना चाहते हैं क्योंकि इसकी वजह से वे नौकरशाही में ऊंचे वर्ग में पहुंच सकते हैं। ऐसा सिर्फ पैसे की वजह से ही नहीं होता बल्कि इसलिए भी होता है कि एक इंजीनियर की तुलना में बतौर प्रबंधक उनका अपने काम व जीवन पर अधिक नियंत्रण होता है क्योंकि इंजीनियर तो खुद उनके प्रति उत्तरदायी होता है। जब कोई व्यक्ति प्रबंधक अथवा शिक्षक के तौर पर अपनी नौकरी शुरू करता है तो नौकरशाही में अपने पद की स्थिति की वजह से स्वतः ही बहुत सारी सत्ता हासिल कर लेता है। इसे नौकरशाही सत्ता कहते हैं। व्यक्ति के स्वयं सत्ता का स्रोत होने के बावजूद दूसरों का प्यार व सम्मान पाने के लिए सिर्फ इसका होना ही काफी नहीं होता। वेबर ने दूसरे प्रकार की सत्ता भी बताई थी जिसे करिश्माई सत्ता कहा था। यह व्यक्ति के पास नौकरशाही में उसके पद की वजह से नहीं होती बल्कि अपने सहकर्मियों व छात्रों के साथ उसके अपने व्यवहार के कारण होती है। शिक्षक के काम की चुनौती यही है कि उसे नौकरी तो नौकरशाही के तहत मिलती है और वह इस नौकरशाही सत्ता के तहत ही कक्षा में पढ़ाता है किन्तु बेहतरीन शिक्षण तभी हो पाता है जब कोई शिक्षक करिश्माई सत्ता पैदा करने में समर्थ हो जाता है।

लोगों में सत्ता की इस समझ का महत्व तब प्रकट होना शुरू होता है जब हम एक व्यापक नौकरशाही में बहुत से लोगों को काम करते हुए देखते हैं। उदाहरण के लिए, एक इंजीनियर किसी नई कंपनी में जॉइन करता है और वह उसके सत्ता के ढांचे में सबसे निचले पायदान पर होता है। वह ऐसा व्यक्ति है जिसे सबसे ज्यादा आदेश दिए जाते हैं और जो अपने काम व समय को परिभाषित करने के मामले में बहुत कम स्वतंत्रता व स्वायत्तता होने की वजह से प्रायः सबसे ज्यादा तकलीफ में रहता है। इस ढांचे में सबसे ऊपर मौजूद व्यक्ति ही शायद वह व्यक्ति है जिसके पास सबसे ज्यादा सत्ता है और इस वजह से उसके पास अपने काम की गति व प्रकृति को नियंत्रित करने की स्वायत्तता सबसे ज्यादा है। आज के इस भारत में अभी-अभी नई कंपनी जॉइन करने वाला व पन्द्रह मासिक तनख़्वाह पाने वाला वह इंजीनियर सतही तौर पर ही उस वर्ग में है जिसमें डेढ़ लाख तनख्वाह पाने वाला प्रबंधक है। वे दोनों ही शिक्षित हो सकते हैं, उन दोनों के ही पास डिग्री हो सकती है। किन्तु उनके बीच उनकी बाजार स्थिति की वजह से व उन्हें हासिल सत्ता की वजह से बहुत बड़ा फर्क है।

भारतीय औद्योगिक व सेवा क्षेत्रों में वर्गीय संबंध

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब मार्क्स औद्योगिक वर्गीय रिश्तों का विश्लेषण करने की कोशिश कर रहे थे तब पूंजी पर हक रखने वाले या बुर्जुआ तथा अपने पास मात्र श्रम की पूंजी रखने वाले सर्वहारा वर्ग ही उन्हें इसके लिए सबसे उचित लगे। मार्क्स के लगभग डेढ़ सदी बाद दुनिया का वर्गीय ढांचा काफी हद तक विकसित होकर बदल गया है। दूसरी चीजों के साथ-साथ दुनिया के कई देशों में सेवा क्षेत्र, उत्पादन व उद्योग से भी बड़ा हो गया है। मार्क्स के समय में प्रबंधक जैसे पद का अस्तित्व तक नहीं था जो आज के समय की एक खासियत बन चुका है। बीसवीं सदी के मध्य से ही विश्लेषक (बुर्नहम, 1941) यह कहने लगे थे कि अब दुनिया के सत्ता के ढांचे की लगाम प्रबंधकों के हाथों में है और मालिकों के बजाय उनका ही उद्योग पर नियंत्रण है। हो सकता है ऐसा कहकर उनकी भूमिका को कुछ ज्यादा ही तवज्जो दे दी गई हो किन्तु इस सबके बावजूद इसमें कोई शक नहीं है कि जिसे मध्यस्थ की भूमिका निभाने वाला कहा जाता है ऐसा प्रबंधक का यह वर्ग आज की शिक्षा व्यवस्था का महत्वपूर्ण उत्पाद है और पिछली सदी में अस्तित्व में आए नए वर्गीय ढांचे में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। शिक्षा व्यवस्था जिस तरह से काम करती है उस वजह से यह वर्गीय ढांचे के साथ बहुत सघनता के साथ बंधी है। यह वर्ग के आधार पर बनी है और खुद भी वर्गीय विषमता को विकसित करने में मदद करती है। किसी समय शिक्षा का मूल काम सभ्य व्यक्ति का निर्माण करना था। और इस तरह बाजार की मांग के हिसाब से किसी को सत्ताधारी अथवा संसाधनों से पूर्ण बनाने में इसका योगदान बहुत नहीं था। आज के समय में व्यक्ति को सभ्य बनाने के विचार के साथ-साथ शिक्षा हमारी विभिन्न वर्गीय स्थितियों को तय करने में भी अपनी भूमिका निभाती है। यह वर्गीय व्यवस्था का हिस्सा बन जाती है तथा इसे केवल व्यक्ति के आध्यात्मिक या बौद्धिक विकास के स्रोत के तौर पर नहीं समझा जा सकता।

आज की दुनिया में और खासकर भारत में हम वर्गीय ढांचे के सबसे शक्तिशाली तबके के तौर पर बड़े पूंजीपतियों व प्रबंधकों को आगे आता हुआ देख रहे हैं। वे संख्या में कम होने के बावजूद राजनैतिक निर्णयों को बहुत ज्यादा प्रभावित कर रहे हैं। पिछली सदी में उद्योग व राज्य के बीच गठबंधन मजबूत से मजबूत होता गया है तथा बाजार की मुक्ति के सारे दावों के बावजूद छोटे, मध्यम व बड़े पूंजीपति के लिए सरकार की मदद व संरक्षण के बिना काम करना असंभव है। प्रबंधक श्रमिकों का इस तरह दोहन करना चाहते हैं कि मालिकों को लाभ पहुंचाने वाली चीजों व सेवाओं का उत्पादन हो और उनकी खुद की तनख़्वाहें बढ़ती रहें। कार्मिकों को शोषण से बचाने वाले कायदे-कानूनों को पिछले तीन दशकों में हमने धीरे-धीरे कमजोर होते हुए देखा है। राज्य द्वारा संचालित नीतियों की वजह से नियमित कर्मचारियों की संख्या न के बराबर बढ़ रही है जबकि अनियमित व ठेके पर काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या में तेजी से इज़ाफा हुआ है। ऐसे लोग ज्यादा असुरक्षित होते हैं तथा प्रबंधकों द्वारा नियंत्रित किए जाने व मालिकों द्वारा शोषित किए जाने के लिए अभिशप्त होते हैं।

प्रबंधक व अन्य शिक्षित वर्ग को बनाने में स्कूल, कॉलेज व विश्वविद्यालयों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। भारत के वर्गीय ढांचे में ये अभी भी अल्पसंख्यक ही हैं किन्तु फिर भी इन्होंने वर्चस्व हासिल कर लिया है। ये वर्ग जिस नज़र

से दुनिया को देखते हैं पाठ्यचर्याओं को उससे प्रभावित किया जा रहा है। एक शिक्षित व्यक्ति कैसा होना चाहिए उसे क्या करने में समर्थ होना चाहिए उस बारे में ये जैसा सोचते हैं उस हिसाब से शिक्षा के उद्देश्यों को प्रभावित किया जा रहा है। एक तरफ नया वर्गीय ढांचा जहां नए अवसरों के रास्ते खोल रहा है वहीं दूसरी ओर कई मायनों में यह उसे सीमित भी कर रहा है। शिक्षा को एक स्वतंत्र सांस्कृतिक शक्ति के तौर पर नहीं देखा जा सकता। यह विभिन्न वर्गों के अलग-अलग हितों को साधने के लिए उनके दबाव में आती रहती है। मालिकों व प्रबंधकों की नज़र में शिक्षा के उद्देश्य उन उद्देश्यों से काफी अलग हो सकते हैं जो श्रमिकों की नज़र में होते हैं। प्रबंधकों की भी एक अपेक्षा ''कौशल आधारित शिक्षा'' की हो सकती है ताकि उसके जरिए बेहतर श्रमिक पैदा किए जा सकें तो दूसरी अपेक्षा इससे भिन्न उन स्कूलों को लेकर हो सकती है जिनमें वे अपने बच्चों को भेजना चाहेंगे। यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि शिक्षा की स्वयं की कोई आवाज व मुद्दा नहीं हो सकता, वह हो सकता है और होता है किन्तु उसे वर्गीय ढांचे द्वारा डाले जा रहे दबावों से निपटते रहने की लगातार जरूरत रहती है।

शिक्षा के उत्पादों को रोजगार के उस बाजार से निपटना होता है जो मौजूद वर्गीय ढांचा उपलब्ध करवा रहा होता है। उदाहरण के लिए, हम एक ऐसे वर्गीय ढांचे को बनाए रखते हैं जिसमें सम्पत्ति या दौलत ऊपरी स्तर पर इकट्ठी होती रहती है और इसे निचले तबके के साथ साझा नहीं किया जाता है तो फिर 100 प्रतिशत नामांकन वाले स्कूलों से निकलने वाले छात्र रोजगार के लिए कहां जाएंगे? ऐसे में बेरोजगारी या अल्परोजगार की बढ़ती स्थिति सामाजिक अशांति पैदा कर सकती है। इसका एक विकल्प यह हो सकता है कि गरीबों को शिक्षा उपलब्ध ही न करवाई जाए ताकि सत्ताधीशों, दौलतमंदों के लिए परिस्थिति शांतिपूर्ण व राजनैतिक रूप से सुरक्षित बनी रहे। किन्तु इस तरह तो हमारे न्याय व बराबरी के आदर्शों की बखिया उधड़ जाती है।

जब हम भारत के संदर्भ में कृषि क्षेत्र व विभिन्न शिक्षित वर्गों के बीच मौजूद पर्तों पर नज़र डालते हैं तो पाते हैं कि वर्गीय गतिशीलता की तस्वीर व शिक्षा के साथ इनके रिश्ते और भी जटिल हैं। इस पर अगले लेख में चर्चा करेंगे। ◆

संदर्भ

Burnham, J. (1941). The managerial revolution: what is happening in the world. New York: John Day Co.

Davis, K., & Moore, W. E. (1945). Some Principles of Stratification. American Sociological Review, 10(2), 242-249.

Dharampal. (1983). The beautiful tree: indigenous Indian education in the eighteenth century. New Delhi: Biblia Impex.

Goldthorpe, J. H., & Marshall, G. (1992). The promising future of class analysis: a response to recent critiques. Sociology, 26(3), 381-400.

Kiatpongsan, S., & Norton, M. I. (2014). How Much (More) Should CEOs Make? A Universal Desire for More Equal Pay. Perspectives on Psychological Science, 9(6), 587-593.

Marx, K. (1852). The eighteenth brumaire of Louis Bonaparte. Champaign, Ill.: Project Gutenberg. Retrieved from http://www.gutenberg.org/files/1346/1346-h/1346-h.htm

Wright, E. O. (1996). Class Counts: Comparative Studies in Class Analysis. Cambridge University Press.

Wright, E. O. (2005). Foundations of a Neo-Marxist Class Analysis. In E. O. Wright (Ed.), Approaches to class analysis (pp. 1-26). Cambridge: Cambridge University Press.

लेखक परिचयः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

भाषान्तरः प्रमोद पाठक